

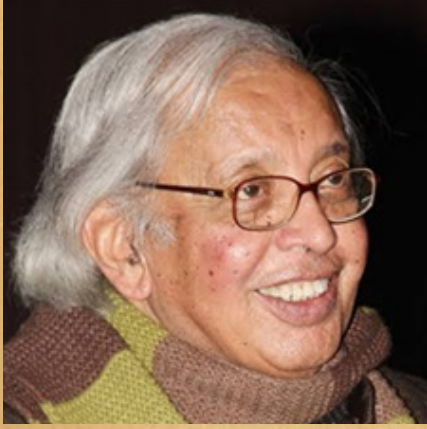
Niranjan Bhagat Memorial Trust



Remembering Niranjan Bhagat
93rd Birthday of Niranjan Bhagat
18th May 2019

Programme

Recital of Poems by Niranjan Bhagat
Introduction by Prafull Anubhai
About the Event by Shailesh Parekh
Launch of 'Chitrangada'
Presentation of Award to Dr. Tridip Suhrud
Acceptance speech by Dr. Tridip Suhrud
First Memorial Lecture by Ashok Vajpeyi
Vote of Thanks by Sandip Bhagat



Ashok Vajpeyi

Ashok Vajpeyi, (b. 1941), Managing Trustee of Raza Foundation, is an eminent Hindi poet, critic and editor. He has published many books of poetry, criticism and art. His works have been translated into Bangla, Marathi, Gujarati, Rajasthani, Urdu, English, French and Polish. He has been honoured with Sahitya Akademi Award, Dayawati Modi Kavi Shekhar Samman and Rashtriya Kabir Samman apart from being honoured by the French and the Polish Governments. In his capacity as an IAS Officer, he was instrumental in setting up Bharat Bhavan, Bhopal—a multicultural complex cum museum. He was actively associated with such premier institutions as Lalit Kala Akademi, Sangeet Natak Akademi, ICCR, Indira Gandhi National Centre for Arts etc.

निरंजन भगत स्मृति व्याख्यान

कविता का सत्य

अशोक वाजपेयी

निरंजन भगत भारतीय कविता और साहित्यजगत् में एक आधुनिक स्थापति के रूप में बहुमान्य हैं। वे उन कवियों में से एक रहे हैं जिन्होंने, विशेषतः हमारे लोकतंत्र में, कविता में नयी नागरिक आधुनिकता को रूपायित करने की कोशिश की: ऐसी आधुनिकता जिसमें समावेश, बहुलता और सृजन की अपनी सत्ता का सहज स्वीकार शामिल हैं। यह कविता-नागरिकता खुली, नवाचारी और कई अर्थों में निर्भीक रही है, जिम्मेदार और सजग होने के साथ-साथ। इस नागरिकता ने कविता के पारम्परिक भूगोल में तात्विक, ऐन्द्रिय और सार्थक विस्तार किया, उसकी प्रश्नवाचकता और उत्तराधिकार के बोध को गहरा किया और कविता के लिए नये मार्ग खोले और प्रशस्त किये। हमारी पीढ़ी और उसके बाद की पीढ़ियों का कविसमाज निरंजन भगत जैसे पूर्वज कवियों का ऋणी रहा है कि उनकी उजली विरासत से हम आलोक और साहस दोनों पाते रहे हैं। मैं इसे अपना सौभाग्य मानता हूँ कि आपने पहले निरंजन भगत स्मृति व्याख्यान के लिए मुझे न्यौता दिया। अगर मेरा व्याख्यान आपको अपर्याप्त लगे या निराश करे तो उसके लिए आपका चुनाव भी किसी हद तक जिम्मेदार होगा, मेरी अपनी अपर्याप्तता के अलावा।

हमारे समय में सत्य के इतने दावेदार हैं और उनके दावों का ऐसा भयावह तुमुल कोलाहल लगभग रोज़ होता है कि उसमें कविता की बात करना और उसके किसी सत्य पर इस्तरार करना बहुत कठिन होता जाता है। इस समय की सबसे भीषण विडम्बना यह है कि ऐसी सत्ताएँ हैं जो राजनीति में, धर्म में, विचार और विवाद में झूठ का पूरी बेशरमी और बेबाकी से सहारा लेती हैं और इसका लगातार आग्रह करती हैं कि झूठ ही सच हैं। ऐसे झूठ को तकनालजी के माध्यम से तरह-तरह से दूर और

देर तक फैल जाने की बड़ी सुविधा मिली हुई है: हमारे समय में झूठ बहुत तेज़ फैल रहा है और सच को लगभग सफलतापूर्वक ढाँक सा रहा है। पाखण्ड, झूँसे, लांछन, गाली-गलौज आदि झूठ के बहुत सक्षम सहचर हैं। हो यह रहा है कि सत्य सीमित, अल्पसंख्यक हो गया है जबकि झूठ लगभग असीम और बहुसंख्यक। झूठ के साथ भय और घृणा भी लगातार फैल रहे हैं: जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों, वर्गों आदि के बीच झूठ पर आधारित और उससे पोषित घृणा जितनी आज है शायद पहले कभी नहीं थी। कई बार यह सन्देह होता है कि मानों झूठ अनिवार्य हो गया है और सत्य सिर्फ एक दुबका हुआ सा विकल्प। सार्वजनिक संवाद और उसकी भाषा, व्यापक रूप से, इतनी अभद्र पहले कभी नहीं हुई। विचित्र यह भी है कि इस अभद्रता को सत्ता, राजनीति, धर्म, मीडिया और बहुत सारे पढ़े-लिखे लोग स्वाभाविक और आवश्यक मानकर पोस रहे हैं। सारी संस्कृति अनुष्ठानों, सार्वजनिक तमाशों और तरह-तरह के दिखावों में घटा दी जा रही है। इस कनफोड़ माहौल में जिसमें दूसरी शान्त आवाज़ों के लिए न कोई अवसर है न कोई जगह, कविता के सत्य की बात करना कुछ अटपटा सा है। इसलिये कविता के सत्य को लेकर जो कुछ कहा जानेवाला है वह एक अटपटा लगभग अप्रासंगिक वक्तव्य करार दिया जा सकता है।

सत्य पर अपना दावा जतानेवाले सदियों से, मनुष्यता के लम्बे इतिहास में, बहुत सारे रहे हैं: अध्यात्म, दर्शन, धर्म, विज्ञान, राजनीति, सत्ता आदि उनमें से कुछ शक्तियाँ हैं जो सत्य की खोज को अपना लक्ष्य बताते हुए अकसर उसको सिर्फ अपने कब्जे में होना मानते रहे हैं। इनमें से किसी भी शक्ति को अन्यत्र भी सत्य होने का कोई अहसास या एहतराम प्रायः बहुत कम रहा है। सत्य की बहुलता या उसको खोजने के मार्गों की अनेकता का स्वीकार बहुत कम ही है। इतिहास की यह एक विडम्बना है कि जिसे लगता है कि सत्य उसके पास है वह उस पर एकाधिपत्य जमा लेता है और वह एक तरह से तानाशाह, सत्य के तानाशाह की तरह व्यवहार करने लगता है। यह तक कहा जा सकता है कि सत्य का लोकतंत्र बहुत कम बन पाया है, उसकी तानाशाही अधिक बनी-बढ़ी है। इस मुकाम पर इस पर विचार करने का अवसर नहीं है कि सत्य के स्वभाव में ऐसा क्या है कि वह बहुलता की ओर कम, एकनिष्ठता की ओर अधिक झुकता है। इस पर सदियों से लम्बी बहस हुई है कि सत्य कभी पूरा पाया नहीं जाता है, कोई परम सत्य न होता है, न ही कभी सम्भव है। ऐसा भी सोचा जा सकता है कि सत्य आत्मप्रतिष्ठ नहीं होता, उसका कोई न कोई सन्दर्भ होता है जो उससे बाहर होता है और जो उसकी सत्यता को प्रामाणिक बनाता है। सत्य का असत्य से कोई संवाद संभव नहीं होता क्योंकि सत्य को अपने आप में असत्य का प्रत्याख्यान होता है। ऐसा भी लगता है कि हर युग के अपने सत्य होते

हैं जो युग बदलने पर पुनर्नवा किये जाने और उनमें कुछ नये सत्य जोड़े जाने के बाद ही समीचीन हो पाते हैं। दूसरी तरफ़, यह भी सही है कि ऐसे सत्य होते हैं जो सार्वभौम और सार्वकालिक होते हैं: देश-काल के हिसाब से ये बदलते या अप्रासंगिक नहीं हो जाते। दूसरे शब्दों में, सत्य का मामला काफ़ी उलझा हुआ है—हर समय में रहता आया है। हम इसे भी नहीं भूल सकते कि सत्य मानवीय अवधारणा है—वह मनुष्य की खोज, मनुष्य का आविष्कार है। अन्य प्राणियों में या प्रकृति में उसकी कोई कल्पना या अस्तित्व है इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है।

कविता और सत्य का सम्बन्ध इस लम्बे उलझाव का ही एक रूप है। भारतीय परंपरा में कविता और सत्य के बारे में कोई विचार या विश्लेषण है तो उसका कम से कम मुझे पता नहीं है। इसलिए मैं यह मानकर चल रहा हूँ कि कविता और सत्य के संबंध की बात थोड़ी नयी है। सौन्दर्य-चिन्तन की अपनी परंपरा में हमने सत्य के सन्दर्भ में कलाओं और साहित्य पर विचार नहीं किया है। इसका एक आशय तो यह है कि भारत में साहित्य और कलाओं तथा सत्य के बीच किसी संबंध की कल्पना ही नहीं थी। उनकी स्वायत्तता और स्वतंत्रता थी, उनमें रस-ध्वनि-अलंकार-औचित्य आदि की अवधारणाएँ थीं। पर सत्य से या उसकी खोज से उन्हें जोड़ा नहीं जाता था।

इस सन्दर्भ में यह देखा जा सकता है कि समाज, समय और सत्य के साथ साहित्य के संबंध को देखने की बात हमारे यहाँ अपेक्षाकृत नयी बात है। इसकी शुरुआत आधुनिकता से ही हुई है। आधुनिकता ने ही इस त्रयी को केन्द्रीयता दी है जो उससे पहले नहीं थी। इसका यह आशय यह क़तई नहीं है कि पहले के साहित्य या कविता में सत्य-समाज-समय नहीं थे। वे तो अनिवार्यतः थे पर उन पर व्यापक विचार नहीं किया जाता था और वे आकलन के प्रतिमान भी नहीं बने थे जैसे कि वे आधुनिकता के दौर में स्पष्टतः बनकर उभरे हैं। पहले कविता इससे जाँची थी कि कितना आनन्द देती है, अब हम इससे परखते हैं कि कितना सच बोलती है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और अलबर्ट आइन्स्टीन के बीच एक संवाद की याद आती है। कवि कह रहा था कि सत्य और सौन्दर्य की अवधारणाएँ बुनियादी रूप से मानवीय हैं, कि कुछ भी सच या सुन्दर नहीं हो सकता अगर उसे उसका ऐसा होना मनुष्य न पहचाने। वैज्ञानिक का आग्रह था कि सत्य और सौन्दर्य मनुष्य के देखने या महसूस करने से स्वतंत्र होते हैं। आकाशगंगा का उदाहरण देते हुए वैज्ञानिक ने इसरार किया कि वह सुन्दर और सत्य है, भले मानवीय दृष्टि उसे नहीं देख पाती या मानवीय मस्तिष्क उस तक नहीं पहुँच पाता। कवि का कहना था कि अगर मनुष्य ऐसा अनुभव न करे तो वह सत्य या सुन्दर नहीं हो सकता। दोनों असहमत रहे और कोई भी दूसरे को अपने से सहमत नहीं कर पाया।

कविता का सत्य एक जटिल अवधारणा है और उसकी जटिलता को समझना ज़रूरी है। कविता का सत्य उसमें अंगीभूत या चरितार्थ अनुभव या अनुभव-पुंज के सत्य से अपना जीवत्व पाता है। यह प्रश्न उठता है कि क्या कविता में प्रगट अनुभव सच्चा अनुभव है। फिर अभिव्यक्ति के सत्य का प्रश्न भी उठता है: क्या अभिव्यक्त होने से कुछ सत्य हो जाता है? भाषा में सच और झूठ दोनों संभव है: भाषा में आने से कुछ सच हो भी सकता है, कुछ झूठ भी पड़ सकता है। अज्ञेय ने कभी कहा था: “मैं सच लिखता हूँ लिख-लिखकर सब झूठा करता जाता हूँ।” यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या कोई सत्य भाषा में आने से पहले भी सत्य रहता है और भाषा उसे सिर्फ व्यक्त-विन्यस्त भर कर देती है। या शायद सही यह है कि भाषा कविता में सत्य को आलोकित या प्रगट भर करती है—उसकी रचना नहीं करती। तब यह प्रश्न बनता है कि क्या सत्य कविता से बाहर स्वतंत्र अस्तित्व में रहता है और कविता उसे भाषा में खींच भर लाती है? क्या भाषा में आकर सत्य वही बना रहता है जैसा कि वह पहले था या कि वह परिवर्तित हो जाता है और इस अर्थ में भाषा सत्य में अपना कुछ जोड़ भी देती है? कविता में भाषा शिल्पित होती है तो उसके साथ उसमें लाया गया सत्य भी शिल्पित हो जाता है: इसका आशय यह है कि कविता का सत्य शिल्पित सत्य है। अगर शिल्प में कोई कमी या खोटा है तो यह सत्य को उसकी सम्पूर्ण जटिलता और उत्कटता में प्रगट करने में सक्षम नहीं होगी।

सत्य अकसर हम सामान्यीकृत करते रहते हैं: हमारा आप्तवाक्य ‘सत्यमेव जयते’ इसी तरह का सामान्यीकरण है; यद्यपि इस समय राजनीति ने उसे बदलकर व्यवहार में लगभग ‘असत्यमेव जयते’ कर दिया है! हम जानते हैं कि आज तो असत्य ऐसा दिग्विजयी जान और दीख पड़ रहा है कि यह सामान्यीकरण सच नहीं होता लगता। कम से कम कविता के क्षेत्र में यह कहा जा सकता है कि उसका देवता सामान्यीकरणों में नहीं ब्योरों में बसता है। ये ब्योरे ऐन्द्रिक, चिन्तनपरक, बौद्धिक आदि हो सकते हैं। शब्द, जिनसे कविता की काया रची जाती है, जीवन की अनेक ठोस छवियाँ कविता में ले आते हैं: उन्हीं से कविता का ऐन्द्रिक आधार बनता है। यही ब्योरे कविता का जीवन का सहज और अहरह स्पन्दन देते हैं।

जीवन के इस स्पन्दन से कविता के सत्य का क्या कोई सम्बन्ध है? एक तो यही कि बिना ऐसे स्पन्दन के सत्य अपने को कविता में चरितार्थ नहीं कर सकता। सत्य अगर जीवन का सार या लक्ष्य है तो भी, कम से कम, कविता के लिए जीवन इस सत्य से बड़ा होता है—अधिक विशाल, अधिक व्यापक, अधिक सजीव, अधिक जटिल और अधिक अदम्य। दूसरे, कविता के लिए, एक तरह से, उसका सत्य जीवन और भाषा से ही निकलता है: कविता अपने श्रेष्ठ क्षणों में भी जीवन और भाषा से

बड़ी नहीं होती। यह उन्हें आलोकित-प्रगट करने, प्रश्नांकित और विन्यस्त करने की चेष्टा करती है पर वह उन्हें अतिक्रमित नहीं कर सकती, न ऐसा अतिक्रमण उसकी चेष्टा या आकांक्षा का अंग होता है। अगर कविता किसी तरह का सत्यापन है तो वह जीवन और भाषा का सत्यापन है: उसमें आकर जीवन और भाषा अधिक सच लगते हैं। कई बार हम जीवन की जटिलता-सूक्ष्मता-वितान को भाषा की शक्ति और सम्भावना को कविता से ही पहचान पाते हैं, अगर हमारे पास उससे प्रतिकृत होने का धीरज और समय हो।

२

हमारा समय चूँकि छोटे-बड़े झूठों से अटा पड़ा है, उनसे प्रायः हर दिन और हर स्तर पर आक्रान्त है, कविता का जरूरी और तात्कालिक काम सत्य-कथन हो जाता है। जब आसपास सभी झूठ बोल रहे हों, झूठ से काम चला रहे हों तो कविता सच बोलने का और इसलिए अकेले पड़ जाने का जोखिम उठाने से विरत नहीं हो सकती। पर कविता हमारे समय में और कई काम सत्य-कथन के अलावा करती रही है: वह समकाल में समझने-निपटने के लिए आवश्यक मिथक रचती है। वह दी हुई दुनिया, दी हुई नैतिकता, दी हुई सामाजिकता, दिये गये निजत्व आदि को अपनी प्रश्नवाचकता के घेरे में लाती है। वह हमारे प्रश्नविमुख दौर में प्रश्न पूछने का दुस्साहस करती है। संसार में ऐसी अनेक चीजें हैं, घटनाएँ-अनुभव-भाव-छबियाँ हैं जो हमारे ध्यान के वितान से बाहर रह जाते अगर उन्हें कविता नामांकित न करती: कविता चीजों को नाम देकर उन्हें एक तरह से, सच और टिकाऊ बनाती है। कविता तथाकथित नैतिक सच, सामाजिक सच, राजनैतिक सच, बाजारू सच आदि को भी प्रश्नांकित करती है: आधुनिक काल में कविता लगातार अपने समय और समाज का प्रश्नांकन करती रही है। ऐसा करने का उसे नैतिक अधिकार मिलता है इस सचाई से कविता अपना प्रश्नांकन भी लगातार करती रहती है: कई बार उसे अपनी व्यर्थता का भी तीखा बोध होता रहता है। अज्ञेय ने कहा है:

खोज में अब निकल ही आया
सत्य तो बहुत मिले—एक ही पाया।

अन्यत्र वे कहते हैं:

शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ हैं
पर इसीलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ हैं।

हिन्दी के एक दूसरे मूर्धन्य कवि शमशेर बहादुर सिंह ने कहा है:

सत्य का मुख
झूठ की आँखें
क्या देखें!
सत्य का रुख
समय का रुख है:
अभय जनता को
सत्य ही सुख है,
सत्य ही सुख।

कविता अगर सत्य से अपने को सम्बद्ध करती है तो वह अभय होती है और अभय देती है। कविता के राज्य में सत्य और भय साथ-साथ नहीं रह सकते। उसके लिए वही सत्य का काम है जो उसे और रसिक को अभय प्रदान करे। स्वयं यातुर न हो बल्कि किसी भी भय का शमन करे।

अज्ञेय ने बहुत पहले यह पहचान लिया था कि:

एक मृषा जिसमें सब डूबे हुए हैं-
क्योंकि एक सत्य जिससे सब ऊबे हुए हैं।

और अज्ञेय ने स्वयं कवि और कविता से अपनी मर्यादा में रहने की सलाह दी थी:

जितना तुम्हारा सच है उतना ही कहो।

यह भी याद रखना चाहिये कि कविता, हर हालत और हर समय में, जीवन का, उसकी अपार मोहक जटिलता और बहुलता का उत्सव मनाती है: वह जन्म ही लेती है संसार के अनुराग से। यह अनुराग ही उसे जो सत्य देता है वह रागसिक्त सत्य होता है, निरपेक्ष नीरस निस्संग सत्य नहीं। यह भी कह सकते हैं कि चूँकि हमारा जीवन मटमैला ही होता है उसका कविता में उपलब्ध सत्य भी मटमैला सत्य होता है: उसमें जीवन की विडम्बनाओं, उत्सुकताओं, घाव-खरोंच धूलधक्खड़ सबकी अमिट छाप होती है। यह सत्य तटस्थ भी नहीं होता: विनोबा भावे के एक पद का इस्तेमाल कर कहें कि यह सत्य जीवन और उसकी बहुलता के पक्ष में झुका हुआ 'पक्ष-पाती तटस्थता' से भिन्दा सत्य होता है।

आयरिश कवि शीमस हीनी ने कभी कहा था कि अगर कविता सत्य और न्याय से अपना क्रार तोड़ दे तो वह विफल होगी। कविता का सत्य मटमैला और पक्षपाती तटस्थ सत्य होता है और उसका न्याय से अनिवार्य सम्बन्ध होता है। हमारे सामान्य जीवन में राजनैतिक-आर्थिक-सामाजिक-धार्मिक कई तरह के अन्याय व्याप्त हैं: हम पर्यावरण, वन-नदी-पर्वत, प्रकृति, पशु-पक्षी आदि सभी मानवों से अत्याचार और अन्याय करते रहते हैं। कविता अपना अद्वितीय सत्य इस व्यापक अन्याय को लक्ष्य कर, उनके शोषण और उनके साथ मनुष्य के लगभग शाश्वत अन्याय को दर्ज करती है, उनकी व्यथा-विडम्बना को और एक तरह से मनुष्य की न्याय-बुद्धि की तरह उभरती है। दूसरे शब्दों में कविता अगर सत्य की रंगभूमि है तो साथ ही न्याय की रणभूमि भी। उसका सत्य ऐकान्तिक नहीं हो सका: वह न्याय से अभिन्न रूप से जुड़ा होता है। कविता ऐसी जगह है जहाँ सत्य और न्याय एक-दूसरे के अनिवार्य सहचर और परस्पर पोषक होते हैं।

सत्य और न्याय में सौन्दर्य को भी जोड़ना जरूरी है तभी वह त्रयी बनती है: सत्य-न्याय-सौन्दर्य। कभी-कभी जब हम 'सत्यं शिवं सुन्दरं' कहते हैं तो उसका असली अभिप्राय यही त्रयी है। इस त्रयी को कविता की अपनी राजनीति और अपना अध्यात्म दोनों ही माना जा सकता है: राजनीति इसलिए कि कविता सत्य-न्याय-सौन्दर्य को चरितार्थ कर उन्हें समाज में प्रतिष्ठित करने की प्रेरणा देती है: ऐसा समाज सभ्य नहीं हो सकता जिसमें इन तीनों के लिए आकांक्षा और उनके लिए जगह न हो। साथ ही, ये कविता का अध्यात्म भी हैं क्योंकि ये उसे कविता की विराट् का स्पन्दन हो सकने की आकांक्षा से जोड़ते हैं। कविता, अपने छोटे-छोटे अनुभवों-छबियों-बिम्बों-प्रसंगों से, विराट् को स्पन्दित करने का प्रयत्न करती है और यह स्पन्दन आ नहीं सकता अगर कविता में सत्य-न्याय-सौन्दर्य का सजग सतत संस्पर्श न हो। निरंजन भगत ने जब रिल्के की मृत्यु पर लिखी अपनी कविता में कहा कि 'एक काँटे से घायल होते हुए/तुमने शाश्वत गान के सत्य का सत्यापन किया?' तो काँटे से शाश्वत गान को जोड़ते हुए वे इसी विराट् को अपने पड़ोस में लग रहे हैं। शायद यह भी कह सकते हैं कि कविता कभी विराट् से स्पन्दित होती है तो कभी-कभी घायल भी। स्वयं रिल्के की कविता में इस घायल होने का बहुत सघन और मार्मिक अनुभव दर्ज है। वहाँ भी सत्य-न्याय-सौन्दर्य एक-दूसरे से संगुम्फित हैं कुछ ऐसे कि उन्हें अलगाना संभव नहीं है। खुद कविता के सत्य को अलगाना, उसकी रागसिक्त काया से उसे अलग करना, उसे सौन्दर्य और न्याय से दूर कर देखना उसे निष्प्राण कर देने के बराबर है।

इसी मुकाम पर हमें यह पहचान सकना चाहिये कि कविता का सत्य परिणत सत्य नहीं होता: वह हमेशा प्रक्रिया में रहता है। वह शायद कभी परिणति तक न पहुँचता है, न उसे किसी परिणति में पाया जा सकता है। इस अर्थ में वह ऐसा सत्य है जो हमेशा बनने की प्रक्रिया में रहता है पर समापन या परिणति पर कभी नहीं पहुँचता। ऐसा इसलिए भी है कि कविता का सत्य हिस्सेदार सत्य है—कविता स्वयं पूरा सच अपने में अंगीभूत कर ही नहीं सकती। उसका सच तब पूरा होता है जब पाठक या रसिक याने कोई न कोई दूसरा उसमें थोड़ा सा अपना सच भी मिलाये। वह साझा सच होता है और यही कारण है कि अगर इस साझे के कई अलग-अलग रूप हों, जो कि होंगे ही, तो एक ही कविता की अलग-अलग व्याख्याएँ होंगी। महान् से महान् कविता का भी अर्थ और आशय, सत्य कभी सुनिश्चित नहीं होता: वह देश, काल, रुचि और दृष्टि के अन्तर से बराबर बदलता रहता है। कविता, सार्थक और बड़ी कविता, अगर हमेशा प्रासंगिक बनी रहती है तो इसलिए कि उसके हर समय में अनेक अर्थ संभव और ज़रूरी होते हैं। यह सोच सकते हैं कि कविता का सत्य हिस्सेदार, प्रक्रियाकेन्द्रित होने के अलावा बहुल भी होता है। चूँकि वह परिणत नहीं होता, निश्चित नहीं होता उसे देश-काल से परे उत्तरजीवी होने की सुविधा प्राप्त होती है। बड़ी कविता कालविद्ध होकर भी, बल्कि होकर ही कालजयी होती है—कालातीत होती है।

कविता के सत्य को सत्य की सामान्य धारणा से एक और अर्थ में अलगाना ज़रूरी है। सत्य की जो व्यापक और सामान्य अवधारणा है उसमें वह एकतान, एकनिष्ठ, अन्तर्विरोधहीन, सुगठित, सुसंगत होता है। कविता का सत्य इससे बिलकुल अलग होता है: वह सत्य बहुलता से उपजता और उसे चरितार्थ करता है, उसमें अन्तर्विरोधों और विलोमों की जगह होती है, उसमें दरारें-विडम्बनाएँ-अराजकताएँ सब होती हैं और वह विसंगत को भी अवकाश देता है। कविता का सत्य अस्तित्व और जीवन की बहुलता को एकीकृत नहीं करता—उसे एकीकरण नहीं संश्लेष चाहिये। अगर पारंपरिक बिम्बों का उपयोग इस स्थिति को समझने में करें तो कह सकते हैं कि कविता का सत्य शान्त समरस अविचलित रामराज्य नहीं, शिव की बारात जैसा होता है जो सबकी समेटती चलती रहती है।

हमारे यहाँ यह कहा गया है कि 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति'। इस अवधारणा में एक ऐसे विराट सत्य की कल्पना की गयी है जो अनादि-अनन्त है और सर्वत्र व्याप्त है। उसके एक होने पर बल है और इस पर भी कि सत्य एक है पर जानकार लोग अलग-अलग ढंग से उसे व्यक्त करते हैं। मुझे लगता है कि सत्य की ऐसी परम एकता की हमें ज़रूरत नहीं है। इसलिए कि उसकी तथाकथित एकलता उसकी एक तरह की तानाशाही को जन्म देती है, दे सकती है, देती रही है। खासकर कविता के हवाले से हमें यह पहचान सकना चाहिये कि सत्य भी अनेक और बहुल हैं—कवि अलग-अलग ढंग से एक ही सत्य को खोजते-अवगाहते-पाते नहीं हैं: उनकी खोज, उनका अनुसन्धान उन्हें अनेक सत्य पाने, सत्य की बहुलता की ओर ले जाता है। यही नहीं, अकेले साहित्य में कविता का सच, उपन्यास का सच और नाटक का सच भी एक नहीं होते: वे अलग-अलग सच होते हैं। निराला का सच प्रेमचन्द के सच से अलग था, है। हमें भी सच एक क्यों चाहिये? अलग-अलग सच हमारे सामान्य जीवन का अनुभव हैं। कविता, इस अनुभव से अलग, किसी एक सत्य के शरण्य की तलाश हो यह क्रतई ज़रूरी नहीं है। सत्य के साथ न्याय का जुड़ाव भी तभी सार्थक हो सकता है जब उसमें अनेक सत्यों के होने और उनके एहतराम की सम्भावना हो।

हमारे समय को विश्वव्यापी स्तर पर 'पोस्टटूथ' का याने सत्यातीत समय कहा गया है। यह अवधारणा यह प्रतिपादित करती है कि हमारे समय में सत्य की केन्द्रीयता और महत्व समाप्त हो गये हैं। समय सत्य के आगे निकल गया है। यों तो यह बात नयी नहीं है: जार्ज आर्वेल ने द्वितीय महायुद्ध के दौरान लिखा था कि "वस्तुनिष्ठ सत्य की अवधारणा दुनिया से मिट रही है। अब झूठ इतिहास बनायेंगे।" सत्यातीत समय की कुछ विशेषताएँ हैं: पहली यह कि वैकल्पिक तथ्य असली तथ्यों का जगह लेते हैं और भावनाओं का साक्ष्य से अधिक वजन होता है। दूसरी यह कि वह एक तरह की विचारधारात्मक श्रेष्ठता का रूप है जिसके रहते उसके प्रयोगकर्ता किसी को ऐसे कुछ में विश्वास करने के लिए विवश करते हैं, जिसका कोई अच्छा साक्ष्य हो या न हो। तीसरी कि पैसे के बल पर किसी भी सिद्ध वैज्ञानिक सिद्धान्त को संदिग्ध बनाया जा सकता है, एक वैकल्पिक सिद्धान्त का छद्म खड़ा करके और उसे मीडिया और जनसंपर्क द्वारा व्यापक रूप से फैलाया जा सकता है। चौथी कि सत्यातीत समय की सचाई को कुछ चुने हुए तथ्यों के चतुर नियोजन से गढ़ा जा सकता है, उन तथ्यों को छोड़ते हुए जो इस नियोजन की पुष्टि न करते हों। पाँचवी यह कि समान अवसर या अवधि देकर सच्चे और झूठे दोनों पक्षों के बीच एक अवास्तविक समता बना दी जाती है।

आज भारत में व्यापक रूप से जो रहा है वह इन सब विशेषताओं को लिये हुए है। ये विशेषताएँ हमें इस क्रूर आक्रान्त किये हैं कि इतिहास, स्मृति, परम्परा सबके बारे में अब लगातार झूठ फैलाये जा रहे हैं और असत्य की एक विशाल भजनमण्डली बन गयी है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि इस हालत में कविता का अपने सत्य पर टिके रहना पहले से कहीं अधिक कठिन और खतरनाक हो गया है। इस स्थिति में एक और सूक्ष्म बाधा यह है कि सच्ची कविता अपने पर, अपने सत्य पर सन्देह भी करती है। यह सन्देह उस पर असत्य का पक्षधर हो जाने के लिए दबाव की तरह इस्तेमाल किया जाता है। तर्क कुछ यों बनता है: जब कविता को स्वयं अपने सत्य पर सन्देह है तो उसे उस तथाकथित सत्य को क्यों नहीं स्वीकार कर लेना चाहिये जो व्यापक रूप से फैल रहा, मान्य हो रहा है? कहा जा सकता है कि सौभाग्य से सच्ची कविता अभी तक झूठ के झाँसों में नहीं आयी है और अपने सत्य पर ज़िद करके अड़ी हुई है। कविता आज अल्पसंख्यक भले हो गयी हो, वह असत्य और उससे उपजनेवाली घृणा और हिंसा के विरुद्ध सत्याग्रह है। उसका अपना स्वराज्य, प्रभाव में कितना ही सीमित, इसी सत्याग्रह की जगह है। अगर कविता इस सत्याग्रह से विरत होती है तो वह अपना सत्य भी गँवा बैठेगी यह स्पष्ट है। सौभाग्य से ऐसी आशंका करने का कोई आधार नहीं है कि वह अब झूठ से ललचा रही है। झूठ के घटा टोप में हम कविता से सच कहने और उस पर अड़े रहने की उम्मीद छोड़ नहीं सकते। अभी तक उसने इस उम्मीद को झुठलाया नहीं है।

५

कविता भाषा में रची जाती है और उसका सत्य भाषा में ही चरितार्थ होता है। आज भाषा व्यापक अवमूल्यन और लगभग अमानवीय दुरुपयोग का लगातार शिकार बनायी जा रही है। सार्वजनिक संवाद की भाषा इतनी भोंथरी, सँकरी और आक्रामक पहले कभी नहीं हुई जितनी आज है। भाषा का यह दुर्व्यवहार राजनीति, धर्म, मीडिया, विज्ञापन आदि सभी कर रहे हैं। भाषिक पर्यावरण इतना प्रदूषित हो गया है कि उसमें सिर्फ अभिधा का आतंक है—भाषा की अन्य शक्तियाँ हाशिये पर चली गयी हैं। झूठ-हिंसा-घृणा का जो घटाटोप छाया हुआ है उसमें भाषा की शब्दसंपदा, भावसंपदा, विचारसंपदा आदि सभी एक तरह तरह से अनावश्यक से हो गये हैं, बहिष्कृत हैं। स्वयं अज्ञान शिखर से इतने आत्मविश्वास से लगभग रोज़ चीखता-पुकारता है कि भाषा की ज्ञानसम्पदा उसमें सम्प्रेषण के लिए एक अड़ंगा मानी जाने लगी है। लगभग जानबूझकर भाषा को स्मृतिहीन, अन्तर्ध्वनियों से रिक्त, विवेक से विरत किया जा रहा है। हिन्दी का तो

आलम, दुर्भाग्य से, यह है कि वह गालीगलोज, लांछन-आरोप, झूठ आदि की आक्रामक भाषा बन गयी है जिसमें विचार और विवेक संभव या मौजूद ही नहीं लगते! आज कविता इस भाषायी क्षरण का प्रतिरोध है। वह ऐसा कुछ कविता में लाने का प्रयत्न है जो हमारे सामान्य ध्यान और अनुभव से लगातार बाहर रहा आता है। यह भी कह सकते हैं कि जिसे भाषा से सार्वजनिक सम्वाद में बाहर छोड़ या कर दिया गया है, कविता उसे अन्दर लाने की कोशिश करती है। जो इस समय कहने से बचा जा रहा है, जो कहने में कुछ जोखिम है, कविता उसे कहने का दुस्साहस करती है। वह अपना सत्य इसी साहस से अर्जित करती है। जब बोलना जरूरी हो और उसे द्रोह तक करार दिया जा सकता है तब बोलना, जो अकथनीय है उसे कथनीयता के अहाते में लाना, जब याद करने के बजाय भूलना एक सार्वजनिक व्याधि की तरह फैल गयी हो तब याद करना, कविता यही कर अपना सत्व अर्जित करती है। वह भाषा के मानवीय और नैतिक कर्तव्य की विधा इस तरह बन पाती है। ऐसा समय हो सकता है और लगता है कि हमारा समय ऐसा है जिसमें कविता भाषा और अभिव्यक्ति से कहीं आगे जाकर अन्तःकरण की विधा बन जाती है। आप को याद होगा कि महात्मा गांधी शुरू में कहते रहे थे कि 'ईश्वर ही सत्य है' पर अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में उन्होंने कहा कि 'सत्य ही ईश्वर है'। कुछ इस मुहावरे का उपयोग कर हम कह सकते हैं कि आज कविता का अन्तःकरण ही उसका सत्य है।

हमारे यहाँ ऐसे कवियों का लम्बा सिलसिला है जिनके बारे में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने अन्तःकरण को कविता में रूपायित कर कविता का सत्य चरितार्थ किया। मुझे विश्वास है कि निरंजन भगत ऐसे ही कवि हैं जिनके यहाँ अन्तःकरण और सत्य तदात्म हैं।

अन्तःकरण की बात करते ही हिन्दी कवि गजानन माधव मुक्तिबोध की याद आती है जिन्होंने लगभग ६५ वर्ष पहले 'अन्तःकरण का आयतन संक्षिप्त' होने से पहचाना था। उन्होंने यह भी पहचाना था कि "विराटझूठ के अनन्त छन्द सी/भयावनी अशान्त पीत धुन्ध सी/सदा अगेय"। पर उन्होंने यह चेतावनी भी दी थी "अपने सत्य की गोद में बन्द न हों।" सत्य, कविता का सत्य वही काव्य जो खुला हो और अपने या किसी को बन्द न करे। कविता को 'सुन्दर जाल' नहीं होना चाहिये 'एक जलता सत्य देने टाल।'।

Niranjan Bhagat Memorial Award

Acceptance Speech

Tridip Suhrud

“The Poet”, said M K Gandhi, “has no equal.” He was not only speaking of a particular poet, Rabindranath Tagore in this instance, but of all poets. Poets he knew had the power and the calling to stir the souls of people long suppressed, it was the Poet who become the medium through which the Grace of the Divine came upon us “like a shower of mercy” and most importantly the poet was no slave to anyone’s creation. The poet, Gandhi said, lived in a “magnificent world of his own creation—his world of ideas”. The poet as an inventor creates, destroys and recreates.

I am NO Poet, I am at best a slave to somebody else’s creation. And yet, here I am, recipient of an award instituted in the memory of one of our foremost poets and receiving it at the hands of one who has come to represent—to embody—the quest for the autonomy of our aesthetic realm, realm of ideas, the domain of beauty and most crucially the need for words to retain their capacity for meaning.

I know, have known it ever since Anna Akhmatova began to emerge from the fluid, sensuous lines of Amedo Modigliani’s drawing to whisper the calling of the poet. She says to me and to us that the poet has to recognise and help likes of me recognise the faces of those who wait, inconsolably outside or beneath the gates of prison and in our case the courts. It was she, the poet who taught me:

*How terror can escape
from lowered eyes;
How suffering can etch cruel pages
Of cuneiform-like marks upon cheeks.*

It is the poet, always the poet, who teaches us to strain our ears and hear:

The trembling fear inside a hollow laugh.

And it is for this reason, more than any else, that I am deeply touched and moved to be called upon—however briefly and fleetingly—to partake of this universe of poetry that Professor Bhagat both inhabited and epitomised.

When I think of him, I am reminded of Rainer Maria Rilke's Requiem; no, not of the homesickness of the departed but, how comfortable, how at ease in the world of the ancestors are those who lived a good life.

*I have my dead, and
I have let them go;
And was amazed to see
Them so contended;
So soon at home in being
Dead, so cheerful,
So unlike their reputation.*

A little more than a decade ago, in May of 2007, when the plains burnt with equal ferocity, when neither the flames of Gulmohar nor the green, heady smell of mogra brought any respite I wrote an essay on the melancholy, a spiritual cloud that hung above me and since it weighed heavy on me, I believed that it hung heavy over the city.

That evening I received a call that I had least expected. From Bhagat Saheb. He spoke of the beauty of the sparse prose, of the world of books that I inhabited, we laughed about the fact that my maladies were so very 19th Century and then most unexpectedly he asked me about 'fear'. And I replied as one when often does when one is either naïve or young—and I was unfortunately both—with the lines from Viktor Khlebnikov, lines that have been written for poets whose lives have been haunted since the exile of Ovid.

*What a great thing is a police station,
Where I have my rendezvous with the State.*

And Bhagat Saheb laughed, not a hollow laughter but a careworn laugh of an elder and he quoted—as one is expected to—one of my favourite poets: "He toys with tributes of half men." To which I could only reply with Mandelstam's opening line from that poem;

At ten paces you can't hear our words.

Professor Bhagat was far too aware and jealous of the autonomy of

words to surrender his creativity, to confine his imagination only to the realm of the political, much less to the domain of everyday politics.

He was—and many of you who have come together to celebrate him, known this—among those few in contemporary Gujarat to whom the phrase—and it is not just a phrase, it is a mode of life, a state of being, an act of living—“The Life of the Mind” can be applied without any reservation.

“Life of the Mind” of course means being immersed in constant and rigorous inquiry and reflection, subjecting everything, including one’s own creativity to reason. But Life of the Mind is more than that as Hannah Arendt reminds us, yes Arendt who told us about Banality of Evil, it comprises of three aspects: thinking, willing and judging. It is thinking that contributes to our capacity to tell right from wrong, it is willing that allows us to take responsibility for our freedom, thus saving us and freedom from fatalism, and judgement is the capability for aesthetic judgement; the most fundamental being the capacity to recognise truth from a lie.

Bhagat Saheb represented the life of the mind in this philosophical sense and not just in taking absolute delight in never-ending conversations about literature, life and ideas.

As for me, I am a willing slave to someone else’s creation. The role of a literary translator is that. It is also the role of the one who annotates—granted that only those who are captivated by the immense beauty and potential of this almost forgotten craft of writing footnotes can annotate. The note maker’s craft is to be a footnote to someone else’s creation.

But, having been trained in social science—and that too by the likes of Ashis Nandy—I am far too aware that the meeting between the State and the Poet is never innocent, or routine, like checking veracity of the Aadhar Number. Words are always far too nimble, far too amorphous and possessed of liquid polyphony to lose their capacity for meaning. And for this reason I have always sought and found comfort in words, in literature and philosophy. The hyper-real travels in the imaginary lands give me solace. I rejoice in the world explored through the holes in bed sheet as if it were a body of a *purdah-nasheen*. I am inclined to believe that the monkey that came and took away my bottle of ink and pipe cleaners in Simla came out

of Borges's story to warn me that I was becoming far too arrogant and complacent in my craft. And poetry always agitates me. And it is my belief in the fantastic beasts and imaginary lands that does not allow me—has never done so—to be a social scientist. And my lack of faith in numbers—especially numbers given by psephologists—to represent reality have caused enough suspicion about my methods among my colleagues in social sciences for them to happily abdicate any responsibility for my kind of scholarship. Because they know far too well that I believe these lines more than I believe in data. “A trickle of blood came out under the door, crossed the living room, went out into the street, continued on in a straight line across the uneven terraces, went down steps and climbed over curbs, passed along the Street of the Turks, turned a corner to the right and another to the left, made a right angle at the Buendía house, went in under the closed door, crossed through the parlour, hugging the walls so as not to stain the rugs ... and came out in the kitchen, where Úrsula was getting ready to crack 36 eggs to make bread.” I like to inhabit the imaginary land between literature, politics and philosophy. It is an imaginary land but not an illusionary land. And what saves me from this fate where eventually lines between imagination and illusion are blurred and obliterated is my apprenticeship to a man called M K Gandhi. This apprenticeship has in some ways created a ground beneath my feet, taught me great many things and given me more than what an ordinary person—a non-poet—can and perhaps should aspire to; and this award is a testament to what I have received.

But the greatest gift that this apprenticeship has given me is the awareness of that timeless dialogue, dialogue between Jesus of Nazareth and Pontius Pilate:

*I was born for this, I came into the world for this:
to bear witness to Truth!
Truth? What is That?*

We know, says Akhmatova that after this:

*Magdalena smote herself and wept,
The favourite disciples turned to stone,
But where the Mother stood silent.
No one person dared to look.*

We know that since the time of the prefect of Judea the State has

been suspicious of truth, and it has never been more so as it has been today; a world in which—a world that some call post-truth—there is no philosophical distinction between truth and lie.

Gandhi has taught me—taught us, dare I say—that we are part of that timeless dialogue, that we have to place ourselves within that moment, hearing the question echo within us.

I hope, I aspire to be able to hear this question echo within me. If I am able to do that even in a small measure, and rejoice in it; I would consider myself somewhat worthy of this honour and for that I shall ever be in debt of this trust and its trustees.



Dr. Tridip Suhrud

Dr. Tridip Suhrud, (b. 1965), Director, Archive, CEPT University, is an author, translator, critic, cultural historian and a Gandhi scholar. He has translated many important Gujarati works into English—viz. *Saraswatichandara*, *Maru Jivan E J Mari Vani*, *Chhinnapatra* etc. He has translated into Gujarati works like *Nationalism*, *After Amnesia*, *The Intimate Enemy* etc. His highly acclaimed Gujarati critical works include *Samikshit Avrutti* of *Satyana Prayogo* by M. K. Gandhi, *Hind Swaraj Vishe* etc. Gandhi–Tagore dialogue was presented in Gujarati by his thoroughly researched publication: *Kavini Choki*. He has been actively involved with such leading institutions like Sabarmati Ashram, MICA, L. D. Institute of Indology, IAS, Shimla etc.

